करबला की घटना और पर्दे का महत्व

आयतुल्लाहिलउज़मा सय्यदुल उलमा मौलाना अली नक़ी नक़वी

करबला में सत्य व असत्य का युद्ध था। धर्म सहायता का प्रश्न था और इस्लाम के शत्रुओं से टकराव था। कोई सन्देह नहीं कि सत्य का पक्षपात और धर्म की सहायता जिस प्रकार पुरूषों का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार महिलाओं का कर्त्तव्य हैं। परन्तु कार्य पद्धति इसकी दोनों के लिए एक समान होनी चाहिए या विभिन्न?

वर्तमान सभ्यता तो स्त्रियों को पर्दे आदि के बन्धन से मुक्त करना चाहती है उसका उत्तर यह होना चाहिए कि कार्य पद्धति दोनों की एक है। जिस प्रकार मर्द सत्य की सहायता के लिए रणक्षेत्र में आता है, उसी प्रकार महिला को भी आना चाहिए। विशेषकर ऐसी अवस्था में जब पुरूषों की संख्या इतनी न हो कि वह अत्याचारी के भौतिक बल का उन्मूलन कर सकें। विशेष कर उस अवस्था में जब पुरूष अपना कार्य पूरा कर सिधार चुके हों और अब महिलाओं के अतिरिक्त कोई शेष न हो, ऐसी दशा में तो पुरूष महिला के मध्य कोई विभाजन रेखा खींचना आसन्न स्थितियों के हिसाब से ठीक हो ही नहीं सकता। परन्तु यह एक सिद्ध सत्यता है और ऐसा यथार्थ है जो नकारा नहीं जा सकता कि हज़रत इमाम हुसैन[अ०] ने जो अपने समय में इस्लामी मूल्यों के संरक्षण के एक मात्र उत्तरदायी थे करबला की रणभूमि में पर्दे और विशिष्ट महिला संस्कृति व्यवस्था की वो महत्ता सिद्ध की है, जो इससे पहले कल्पना में भी नहीं थी।

एक ओर कम से कम तीस हज़ार की पल्टन और एक ओर अधिक से अधिक डेढ़ सौ के लगभग धर्म योद्धा जिनमें वयोवृद्ध बूढ़े भी और अल्पायु बच्चे भी। परन्तु महिलाएं तलवार द्वारा धर्म युद्ध से इस कठिन बेला में भी मुक्त रखी गयीं। कोई वीरांगना उबैदुल्लाह बिन उमैर की धर्मपत्नी उम्मे वहब सरीखी खैमे की थूनी ले के मैदान में उतर भी आयी तो इमाम ने यही फ़रमा के पलटा दिया कि महिलाओं पर तलवार द्वारा धर्मयुद्ध का आदेश लागू नहीं है।

कोई नहीं कह सकता कि हज़रत ज़ैनब और उम्मे कुलसूम में निर्भीकता और वीरता का जौहर उम्मे वहब से कम था। परन्तु कोई दुर्बल से दुर्बल उनुहार ऐसा नहीं बताती कि इनमें से किसी पुनीत देवी ने इस प्रकार की पहल की हो। क्यों? इसलिए कि महिला के लिए जो इस्लामी व्यवस्था है। वह उनके मन मस्तिष्क में इस प्रकार सुदृढ़ हो चुकी थी कि वे ऐसा करने को सोच भी नहीं सकती थीं। ज़ैनब और उम्मे कुलसूम की क्या चर्चा जो रसूल के घराने की बेटियां थीं, उम्मे लैला, रबाब और क़ासिम की माता सरीख़ी देवियों ने भी जो इस परिवार से मात्र बहू होने का नाता रखती थीं पग आगे नहीं धरे।

इससे कदापि यह नहीं समझना चाहिए कि, ईश्वर की दुहाई, उनके मन में इस्लाम की सहायता का उत्साह न था, अवश्य था, मगर वह यह समझती थीं कि हमारे लिए इस्लामी जीवन व्यवस्था में ऐसा करना जायज़ नहीं।

बड़े विकट अवसर थे वह जब कोई कड़ियल जवान मैदान में युद्धरत है, कोई अल्पायु बच्चा बलिदान के रन में वफ़ा का हक़ अदा कर रहा हैं, कोई प्राण से अधिक प्रिय भाई व्यूहचक्र में फंसा हुआ हो उस समय ममतामयी माँ और हृदय एवं प्राण से न्योछावर होने वाली बहन पर्दे की पाबन्दी के साथ खैमे के अन्दर बैठी रहे। परन्तु यथार्थ यही था।

याद कीजिए वह कठिन अवसर कि जब तमाम प्रिय रिश्तेदार एवं साथी शहीद हो चुके थे, अकेले इमाम शत्रुओं में घिरे हुए थे ज़ख्मों से चूर और आख़िर में घोड़े की पीठ से ज़मीन पर गिरे थे और दुश्मन चारों तरफ़ से घेरे सर को क़लम करने के लिए बढ़ रहे थे, क्या अगर इस वक़्त बनी हाशिम के वंष की औरतें तलवारें लेकर शत्रुओं पर टूट पड़ती और इमाम हुसैन[अ०] को अपने घेरे में ले लेती तो हुसैन[अ०] का सिर आसानी से उतर जाता।

कौन कह सकता है कि उस समय करबला का इतिहास किस सूरत पर लिखा गया होता। मगर ऐसा नहीं किया क्यों

क्या ज़ैनब व उम्मे कुलसूम की रगों और धमनियों में वही रक्त चक्कर नहीं खा रहा था जो अबुल फ़ज़्ल अब्बास बल्कि खुद हुसैन[अ०] की रगों व धमनियों में दौड़ रहा था क्या हज़रत अली[अ०] बिन अबी तालिब[अ०] के शौर्य और साहस में पुत्रियों का कुछ भी भाग न था? कदापि ऐसा नहीं।

परन्तु क्या था? वही प्राण, भाई और सन्तान सबसे अधिक प्रिय इस्लाम के सिद्धान्तों का ध्यान जो ज़ंजीर बनकर इन दुःख पीड़ित और असहाय बीबियों को अन्त तक जकड़े रहा।

सब कुछ हो गया परन्तु वह उसी जगह बैठी रहीं जहां इमाम हुसैन[अ०] उन्हें बिठा गये थे। उस वक़्त तक कि वह जगह यानी खैमें बाक़ी रहे। हाँ जब खैमों में आग के शोले बलन्द थे और ज़ालिमों के हाथ सरों की चादरों को ही जुल्म का निशाना बनाये हुए थे तो नामूस–ए–इस्लाम की खातिर ज़ाहिरी इज़्ज़त व नामूस की कुर्बानी के सवाल को अमली तौर पर हल करने की ज़रूरत थी जिसमें उनके क़दम पीछे नहीं रहे।

अब इस समय उन्हें भाई, बेटों, परिजनों के सभी दाग़ों से बढ़कर दाग़ जो था वह बेपर्दगी का दाग़ था। और जब हृदय की करूणा के प्रकिटीकरण का समय आया तो समस्त विपदाओं में से पूरे जोर शोर के साथ इसी विपदा का व्यक्तीकरण किया गया।

उस अवसर पर जब हज़रत ज़ैनब को दरबार में अभिभाषण की आवश्यकता आसन्न हुई तो यह स्मरणीय शब्द ऐतिहासिक संसार में परदे की महिमा का अनन्तकालीन साक्ष्य बनकर आपकी ज़बान पर आ रहे थे।

इससे स्पष्ट रूप से विदित है कि ज़हरा द्वितीय हज़रत ज़ैनब अपनी सबसे बड़ी विपत्ति इसी बे परदगी होने को समझती थीं। इसी से आपने इसका विशेष रूप से वर्णन किया है।



बाकी पेज नं0 9 का...............

मिलाया जाए तो मतलब साफ होगा कि जनाब सारा को जब यह मालूम हुआ कि यह मेहमान फ़रिश्ते हैं तो बतौर फ़र्याद उन्होंने अपना मुंह पीटा और जब बशारत सुनाई गयी तो ''आप हंस दी'' (सूर–ए–हूद) और अगर यह तस्लीम नहीं किया जाता तो फिर यह तस्लीम करना पड़ेगा कि जनाब सारा ने खुशख़बरी पर अपना मुंह पीटा। कोई साहिब इस मक़ाम पर यह कहकर पीछा नहीं छुड़ा सकते कि यह दीन–ए–इब्राहीमी की बात है। क्योंकि हमारे रसूल–ए–अकरम[स०] को और हमको हुक्म है कि ''इब्राहीम के दीन का इत्तिबाअ़ करो।''

